महावीरका सर्वोदयतीर्थ

जुगलकिशोर मुख्तार
'युगवीर'

सन्मति-विद्या-प्रकाशमाला — छठा प्रकाश

महावीरका सर्वोदयतीर्थ

(सर्वोदय-तीर्थ-शासनके कुछ मूल सूत्रों-सहित)

लेखक
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'
सरसावा, जिला सहारनपुर

प्रकाशक
वीर-सेवा-मन्दिर
दरियागंज, दिल्ली

प्रथमावृत्ति } महावीर-जयन्ती, वीरसंवत २४८१ / ५ अप्रेल सन् १९५५ { तीन आने

मूल्य—प्रचारके लिये १४) रु० प्रतिशत

धन्यवाद

श्रीमती जयवन्तीदेवी धर्मपत्नी बाबू फूलचन्द जी जैन इंजिनियर, साउथ मलाका, इलाहाबादने अपनी दिवंगता दो ताऊजाद बहनों 'सन्मती' और 'विद्यावती' की स्मृतिमें स्थापित 'सन्मति-विद्या-प्रकाशमाला'में 'महावीरका सर्वोदयतीर्थ' नामकी इस पुस्तकके प्रकाशनार्थ १००) रु० की सहायता प्रदान की है, जिसके लिये वह धन्यवादकी पात्र हैं।

प्रकाशक

महावीरका सर्वोदयतीर्थ

शुद्धि-शक्तिकी पराकाष्ठा को अतुलित प्रशान्तिके साथ।
पा, सत्तीर्थ प्रवृत्त किया जिन, नमूँ वीरप्रभु साञ्जलि माथ ॥

भगवान महावीर

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर विहार देशान्तर्गत वैशाली जनपदके उपनगर कुण्डपुरके गणतन्त्र राजा '*सिद्धार्थ*' के पुत्र थे और माता '*प्रियकारिणी*'के गर्भसे उत्पन्न हुए थे, जिसका दूसरा नाम '*त्रिशला*' भी था और जो वैशालीके राजा '*चेटक*'की सुपुत्री थी। आपके शुभ जन्मसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी तिथि पवित्र हुई और उसे महान् उत्सवोंके लिये पर्वका-सा गौरव प्राप्त हुआ। इस तिथिको जन्म-समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, जिसे कहीं कहीं 'हस्तोत्तरा' नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और सौम्य ग्रह अपने उच्चस्थान पर स्थित थे; जैसा कि विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान् श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

चैत्र-सितपक्ष-फाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम्।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥५॥

—निर्वाणभक्ति

तेजःपुञ्ज भगवान्के गर्भमें आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीजनोंकी श्रीवृद्धि हुई—उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा—माताकी प्रतिभा चमक उठी, वह सहजमें ही अनेक गूढ़ प्रश्नोंका उत्तर देने लगी, और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख-शान्तिका अधिक अनुभव करने लगे। इससे जन्मकालमें आपका सार्थक नाम '*वर्द्धमान*' रक्खा गया। साथ ही, '*वीर*' '*महावीर*' और '*सन्मति*' जैसे नामोंकी भी उत्तरोत्तर सृष्टि हुई, जो सब आपके उस समय प्रस्फुटित तथा उच्छलित होनेवाले गुणों-पर ही एक आधार रखते हैं।

महावीरके पिता 'णात' वंशके क्षत्रिय थे। 'णात' यह प्राकृत भाषाका शब्द है। संस्कृतमें इसका पर्यायरूप होता है 'ज्ञात'। इसीसे 'चारित्रभक्ति' में श्रीपूज्यपादाचार्यने "*श्रीमज्ज्ञातकुलेन्दुना*" पदके द्वारा महावीर भगवान्को 'ज्ञात' वंशका चन्द्रमा लिखा है, और इसीसे महावीर '*णातपुत्त*' अथवा '*ज्ञातपुत्र*' भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थोंमें भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार वंशके ऊपर नामोंका उस समय चलन था—बुद्धदेव भी अपने वंश परसे 'शाक्यपुत्र' कहे जाते थे।

महावीरके बाल्यकालकी घटनाओंमेंसे दो घटनाएँ खास तौरसे उल्लेखयोग्य हैं—एक यह कि, संजय और विजय नामके दो चारण-मुनियोंको तत्त्वार्थ-विषयक कोई भारी सन्देह उत्पन्न हो गया था, जन्मके कुछ दिन बाद ही जब उन्होंने आपको देखा तो आपके दर्शनमात्रसे उनका वह सब सन्देह तत्काल दूर हो गया और इसलिए उन्होंने बड़ी भक्तिसे आपका नाम '*सन्मति*' रक्खा। दूसरी यह कि, एक दिन आप बहुतसे राजकुमारोंके साथ वनमें वृक्षक्रीड़ा कर रहे थे, इतनेमें वहाँ पर एक महाभयंकर और विशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्षको ही मूलसे लेकर स्कंध-पर्यन्त बेढ़कर स्थित हो गया जिस पर आप चढ़े हुए थे।

उसके विकराल रूपको देखकर दूसरे राजकुमार भयविह्वल हो गये और उसी दशामें वृक्षों परसे गिरकर अथवा कूदकर अपने अपने घरको भाग गये। परन्तु आपके हृदयमें ज़रा भी भयका संचार नहीं हुआ—आप बिल्कुल निर्भयचित्त होकर उस काले नागसे ही क्रीड़ा करने लगे और आपने उस पर सवार होकर अपने बल तथा पराक्रमसे उसे खूब ही घुमाया, फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी वक्तसे आप लोकमें '*महावीर*' नामसे प्रसिद्ध हुए।

प्राय: तीस वर्षकी अवस्था हो जाने पर महावीर संसार-देह-भोगोंसे पूर्णतया विरक्त हो गये, उन्हें अपने आत्मोत्कर्षको साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करनेकी ही नहीं किन्तु संसारके जीवोंको, जो उस समय पीड़ित पतित तथा मार्गच्युत हो रहे थे, सन्मार्गमें लगाने और उनकी सच्ची सेवा करनेकी एक विशेष लगन लगी—दीन दुखियोंकी पुकार उनके हृदयमें घर कर गई—और इसलिये उन्होंने, अब और अधिक समय तक गृहवासको उचित न समझकर, जंगलका रास्ता लिया, संपूर्ण राज्यवैभवको ठुकरा दिया और इन्द्रिय-सुखोंसे मुख मोड़कर मंगसिरवदि १०मी का '*ज्ञातखंड*' नामक वनमें जिनदीक्षा धारण करली। दीक्षाके समय आपने संपूर्ण परिग्रहका त्याग करके आकिंचन्य (अपरिग्रह) व्रत ग्रहण किया, अपने शरीरपरसे वस्त्राभूषणोंको उतारकर फेंक दिया और केशोंको क्लेशसमान समझते हुए उनका भी लौंच कर डाला। अब आप देहसे भी निर्ममत्व होकर नग्न रहते थे, सिंहकी तरह निर्भय होकर जंगल पहाड़ोंमें विचरते थे और दिन-रात तपश्चरण ही तपश्चरण किया करते थे।

विशेष-सिद्धि और विशेष-लोकसेवाके लिये विशेष ही तपश्चरणकी जरूरत होती है—तपश्चरण ही रोम-रोममें रमे हुए आन्तरिक मलको छाँटकर आत्माको शुद्ध, साफ़, समर्थ और कार्यक्षम बनाता है। इसीलिये महावीरको बारह वर्ष तक घोर

तपश्चरण करना पड़ा—खूब कड़ा योग साधना पड़ा—तब कहीं जाकर आपकी शक्तियोंका पूर्ण विकास हुआ। इस दुर्द्धर तपश्चरणकी कुछ घटनाओंको मालूम करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। परन्तु साथ ही आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चय, सुदृढ आत्मविश्वास, अनुपम साहस और लोकोत्तर क्षमाशीलता-को देखकर हृदय भक्तिसे भर आता है और स्वयमेव स्तुति करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। अस्तु; मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्ति तो आपको दीक्षा लेनेके बाद ही होगई थी परन्तु केवलज्ञान-ज्योतिका उदय बारह वर्षके उग्र तपश्चरणके बाद वैशाख सुदि १० मी को तीसरे पहरके समय उस वक्त हुआ जब कि आप जृम्भका ग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके किनारे शाल-वृक्षके नीचे एक शिला पर षष्ठोपवाससे युक्त हुए क्षपकश्रेणि पर आरूढ थे—मोहनीयादि-कर्मप्रकृतियों का मूलोच्छेद करनेके लिये आपने शुक्ल-ध्यान लगा रक्खा था—और चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्रके मध्यमें स्थित था; जैसा कि पूज्यपादाचार्यकी निर्वाणभक्तिके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

> ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मटम्ब-घोषाकरान् प्रविजहार ।
> उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥१०॥
>
> ऋजकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
> अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥११॥
>
> वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
> क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥१२॥

इस तरह घोर तपश्चरण तथा ध्यानाग्नि-द्वारा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय नामके घातिकर्ममलको दग्ध करके, महावीर भगवान्ने जब अपने आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य नामके स्वाभाविक गुणोंका पूरा विकास

अथवा उनका पूर्णरूपसे आविर्भाव कर लिया और आप अनुपम शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुँच गये, अथवा यों कहिये कि आपको स्वात्मोपलब्धिरूप 'सिद्धि' की प्राप्ति हो गई, तब आपने सब प्रकारसे समर्थ होकर ब्रह्मपथका नेतृत्व ग्रहण किया और संसारी जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देनेके लिये—उन्हें उनकी भूल सुझाने, बन्धनमुक्त करने, ऊपर उठाने और उनके दुःख मिटानेके लिये—अपना विहार प्रारम्भ किया। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि लोकहित साधनाका जो असाधारण विचार आपका वर्षोंसे चल रहा था और जिसका गहरा संस्कार जन्म-जन्मान्तरोंसे आपके आत्मामें पड़ा हुआ था वह अब सम्पूर्ण रुकावटोंके दूर हो जाने पर स्वतः कार्यमें परिणत हो गया।

विहार करते हुए आप जिस स्थान पर पहुँचते थे और वहाँ आपके उपदेशके लिए जो महती सभा जुड़ती थी और जिसे जैनसाहित्यमें '*समवसरण*' नामसे उल्लेखित किया गया है उसकी एक खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिये मुक्त रहता था, कोई किसीके प्रवेशमें बाधक नहीं होता था—पशुपक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहाँ पहुँच जाते थे, जाति-पांति छूताछूत और ऊँचनीचका उसमें कोई भेद नहीं था, सब मनुष्य एक ही मनुष्य जातिमें परिगणित होते थे, और उक्त प्रकारके भेदभावको भुलाकर आपसमें प्रेमके साथ रल-मिलकर बैठते और धर्मश्रवण करते थे—मानों सब एक ही पिताकी सन्तान हों। इस आदर्शसे समवसरणमें भगवान् महावीरकी समता और उदारता मूर्तिमती नजर आती थी और वे लोग तो उसमें प्रवेश पाकर बेहद सन्तुष्ट होते थे जो समाजके अत्याचारोंसे पीड़ित थे, जिन्हें कभी धर्मश्रवणका, शास्त्रोंके अध्ययनका, अपने विकासका और उच्चसंस्कृतिको प्राप्त करनेका अवसर ही नहीं मिलता था अथवा जो पात्र होते हुए भी उसके अधिकारी ही नहीं समझे जाते थे। इसके सिवाय, समव-

सरणकी भूमिमें प्रवेश करते ही भगवान् महावीरके सामीप्यसे जीवोंका वैरभाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य बन जाते थे और उनका जाति-विरोध तक मिट जाता था। इसीसे सर्पको नकुल या मयूरके पास बैठनेमें कोई भय नहीं होता था, चूहा बिना किसी संकोचके बिल्लीका आलिंगन करता था, गौ और सिंही मिलकर एक ही नाँदमें जल पीती थीं और मृग-शावक खुशीसे सिंह-शावकके साथ खेलता था। यह सब महावीरके योगबलका माहात्म्य था। उनके आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिये उनके संनिकट अथवा उनकी उपस्थितिमें किसीका वैर स्थिर नहीं रह सकता था। पतंजलि ऋषिने भी, अपने योगदर्शनमें, योगके इस माहात्म्यको स्वीकार किया है; जैसा कि उसके निम्न सूत्रसे प्रकट है:—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

महावीर भगवानने प्रायः तीस वर्ष तक लगातार अनेक देश-देशान्तरोंमें विहार करके सन्मार्गका उपदेश दिया, असंख्य प्राणियोंके अज्ञानान्धकारको दूर करके उन्हें यथार्थ वस्तु-स्थितिका बोध कराया, तत्त्वार्थको समझाया, भूलें दूर कीं, भ्रम मिटाए, कमज़ोरियाँ हटाईं, भय भगाया, आत्मविश्वास बढ़ाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डबल घटाया, मिथ्यात्व छुड़ाया, पतितोंको उठाया, अन्याय-अत्याचारको रोका, हिंसाका विरोध किया, साम्यवादको फैलाया और लोगोंको स्वावलम्बन तथा संयमकी शिक्षा दे कर उन्हें आत्मोत्कर्षके मार्ग पर लगाया। इस तरह आपने लोकका अनन्त उपकार किया है और आपका यह विहार बड़ा ही उदार, प्रतापी एवं यशस्वी हुआ है।

महावीरका यह विहारकाल ही प्रायः उनका तीर्थ-प्रवर्तन-काल है, और इस तीर्थ-प्रवर्तनकी वजहसे ही वे '*तीर्थंकर*' कहलाते हैं।

आपके विहारका पहला स्टेशन राजगृहीके निकट विपुलाचल तथा वैभार पर्वतादि पंचपहाड़ियोंका वह प्रदेश है जिसे धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें 'पंचशैलपुर' नामसे उल्लेखित किया है। यहीं विपुलाचलपर आपका प्रथम उपदेश हुआ है—केवलज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् आपकी दिव्यवाणी खिरी है—और उस उपदेशसे तथा उसके समयसे ही आपके तीर्थकी उत्पत्ति हुई है, जिसे प्रवचनतीर्थ, धर्मतीर्थ, स्याद्वादतीर्थ, वीरशासन, अनेकान्तशासन और जिनशासनादिक भी कहा जाता है। उस समय इस भरत-क्षेत्रके अवसर्पिणी-काल-सम्बन्धी चतुर्थकालके प्रायः (कुछ ही अंश कम) ३४ वर्ष अवशिष्ट रहे थे; तब वर्षके प्रथम मास प्रथम पक्ष और प्रथम दिनमें श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पूर्वाह्नके समय, जबकि रुद्रमुहूर्तमें अभिजित नक्षत्रका योग हो चुका था, सूर्यका उदय हो रहा था और नवयुगका भी प्रारम्भ था, इस तीर्थकी उत्पत्ति हुई है: जैसा कि विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य वीरसेनके द्वारा सिद्धान्तटीका 'धवला' में उद्धृत निम्न तीन प्राचीन गाथाओंसे प्रकट है:—

इमिस्सेऽवसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवाससेसे किंचिव सेसूणए संते ॥१॥
वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्मि ॥२॥
सावण-बहुल-पडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥३॥

और इस तरह महावीरके तीर्थको उत्पन्न (अवतरित) हुए आज (चैत्रशुक्ला त्रयोदशी संवत् २०१२ को) २५१० वर्ष ८ महीने २७ दिन का समय बीत चुका है।

सर्वोदय-तीर्थ

विक्रमकी प्राय: दूसरी शताब्दीके महान् विद्वान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें, जोकि आप्त कहे जानेवाले समस्त तीर्थप्रवर्तकोंकी परीक्षा करके और उस परीक्षा-द्वारा श्री महावीर-जिनको सत्यार्थ आप्तके रूपमें निश्चित करके तदनन्तर उनकी स्तुतिके रूपमें लिखा गया है, महावीर भगवान्-को (मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेसे) अतुलित शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिके उदयकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ एवं ब्रह्मपथका नेता लिखा है और इसीलिये उन्हें "*महान्*" बतलाया है। साथ ही उनके अनेकान्त शासन (मत) के विषयमें लिखा है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) की निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट-सुनिश्चित करने वाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खण्डित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसी-लिये वह अद्वितीय है।' जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाओंमें प्रकट है—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं,
नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ ६ ॥

इनसे अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्वको और उसके द्वारा वीर-जिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीर-जिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोंमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको ही सिद्ध करनेमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्तव्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादोंका सूत्र अथवा संकेतादिके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आ गया है। यह विषय ३६ वीं कारिका तक चलता रहा है। इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें ९वीं शताब्दीके विद्वान् श्री विद्यानन्दाचार्यने वहाँ तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है—

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्—यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीर-जिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक

स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपमें निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थके उत्तरार्धमें, वीरशासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जातीं, जिनमें *'एव'* तथा *'स्यात्'* शब्दके प्रयोग-अप्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे महावीरके तत्त्वज्ञानको समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। महावीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें *'सर्वोदयतीर्थ'* बतलाया है—संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी भव्यजीव पार उतर जाते हैं और जो सबोंके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें परम सहायक है। इस विषयकी कारिका निम्न प्रकार है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

इसमें स्वामी समन्तभद्र वीर भगवानकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'(हे वीर भगवन् !) *आपका यह तीर्थ*—प्रवचनरूप शासन या परमागमवाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्रको तिरा जाता है—*सर्वान्तवान् है*—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भाव-अभाव), एक-अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है; एकान्ततः किसी एक ही धर्मको अपना इष्ट किये हुए नहीं है—

और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये हुए है—एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है; जो गौण है वह निरात्मक नहीं होता और जो मुख्य है उससे व्यवहार चलता है; इसीसे सब धर्म सुव्यवस्थित हैं; उनमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है । *जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता*—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—*वह सर्वधर्मोंसे शून्य है*—उनमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है । *अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सब दुःखोंका अन्त करनेवाला है. यही निरन्त है*—किसी भी मिथ्यादर्शनके द्वारा खण्डनीय नहीं है—*और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा सर्वोदयतीर्थ है*—जो शासन सर्वथा एकान्तपक्षको लिये हुए हैं उनमेंसे कोई भी 'सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य नहीं हो सकता ।'

यहाँ 'सर्वोदयतीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दोंसे मिलकर बना है । 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्ण (Complete) का वाचक है; 'उदय' ऊँचे-ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकासको कहते हैं; और 'तीर्थ' उसका नाम है जिसके निमित्तसे संसारमहासागरको तिरा जाय *। वह तीर्थ वास्तवमें धर्मतीर्थ है जिसका सम्बन्ध जीवात्मासे है, उसकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही यहाँ 'तीर्थ' शब्दके द्वारा परिग्रहीत है । और इसलिये इन तीनों शब्दोंके सामासिक योगसे बने हुए 'सर्वोदयतीर्थ' पदका फलितार्थ यह है कि—जो आगमवाक्य जीवात्माके पूर्ण उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें तथा सब जीवोंके उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें सहा-

* "तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिमिति' —विद्यानन्दः

यक है वह *'सर्वोदयतीर्थ'* है। आत्माका उदय-उत्कर्ष अथवा विकास उसके ज्ञान-दर्शन-सुखादिक स्वाभाविक गुणोंका ही उदय-उत्कर्ष अथवा विकास है। और गुणोंका वह उदय-उत्कर्ष अथवा विकास दोषोंके अस्त-अपकर्ष अथवा विनाशके बिना नहीं होता। अतः सर्वोदयतीर्थ जहाँ ज्ञानादि गुणोंके विकासमें सहायक है वहाँ अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारण ज्ञानावर्णादिक कर्मोंके विनाशमें भी सहायक है—वह उन सब रुकावटोंको दूर करनेकी व्यवस्था करता है जो किसीके विकासमें बाधा डालती हैं। यहाँ तीर्थको सर्वोदयका निमित्त कारण बतलाया गया है तब उसका उपादान कारण कौन? उपादान कारण वे सम्यग्दर्शनादि आत्म-गुण ही हैं जो तीर्थका निमित्त पाकर मिथ्यादर्शनादिके दूर होनेपर स्वयं विकासको प्राप्त होते हैं। इस दृष्टिसे 'सर्वोदयतीर्थ' पदका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है और वह यह कि 'समस्त अभ्युदय कारणोंका—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप त्रिरत्न-धर्मोंका—जो हेतु है—उनकी उत्पत्ति अभिवृद्धि आदिमें (सहायक) निमित्त कारण है—वह 'सर्वोदयतीर्थ' है *। इस दृष्टिसे ही, कारणमें कार्यका उपचार करके इस तीर्थको धर्मतीर्थ कहा जाता है और इसी दृष्टिसे वीरजिनेन्द्रको धर्मतीर्थका कर्ता (प्रवर्तक) लिखा है; जैसा कि ९वीं शताब्दीकी बनी हुई 'जयधवला' नामकी सिद्धान्तटीकामें उद्धृत निम्न प्राचीन गाथासे प्रकट है—

णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ॥

इस गाथामें वीर-जिनको जो निःसंशयकर—संसारी प्राणियों

* "सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदानां हेतुत्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः।" —विद्यानन्दः

के सन्देहोंको दूरकर उन्हें सन्देहरहित करनेवाला—*महावीर*—ज्ञान-वचनादिकी सातिशय-शक्तिसे सम्पन्न—*जिनोत्तम*—जितेन्द्रियों तथा कर्मजेताओंमें श्रेष्ठ—और *रागद्वेष-भयसे-रहित* बतलाया है वह उनके धर्मतीर्थ-प्रवर्तक होनेके उपयुक्त ही है। बिना ऐसे गुणोंकी सम्पत्तिसे युक्त हुए कोई सच्चे धर्मतीर्थका प्रवर्तक हो ही नहीं सकता। यही वजह है कि जो ज्ञानादिशक्तियोंसे हीन होकर राग-द्वेषादिसे अभिभूत एवं आकुलित रहे हैं उनके द्वारा सर्वथा एकान्तशासनों—मिथ्यादर्शनोंका ही प्रणयन हुआ है, जो जगतमें अनेक भूल-भ्रान्तियों एवं दृष्टिविकारोंको जन्म देकर दुःखोंके जालको विस्तृत करनेमें ही प्रधान कारण बने हैं। सर्वथा एकान्तशासन किस प्रकार दोषोंसे परिपूर्ण हैं और वे कैसे दुःखोंके विस्तारमें कारण बने हैं इस विषयकी चर्चाका यहाँ अवसर नहीं है। इसके लिये स्वामी समन्तभद्रके देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र जैसे ग्रन्थों तथा अष्टसहस्री जैसी टीकाओंको और श्रीसिद्धसेन, अकलंकदेव, विद्यानन्द आदि महान् आचार्योंके तर्कप्रधान ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जो तीर्थ—शासन—सर्वान्तवान् नहीं—सर्वधर्मोंको लिये हुए और उनका समन्वय अपनेमें किये हुए नहीं है—वह सबका उदयकारक अथवा पूर्ण-उदयविधायक हो ही नहीं सकता और न सबके सब दुःखोंका अन्त करनेवाला ही बन सकता है; क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है—अनेकानेकगुणों-धर्मोंको लिये हुए है। जो लोग उसके किसी एक ही गुण-धर्म पर दृष्टि डालकर उसे उसी एक रूपमें देखते और प्रतिपादन करते हैं उनकी दृष्टियाँ उन जन्मान्ध पुरुषोंकी दृष्टियोंके समान एकांगी हैं जो हाथीके एक-एक अंगको पकड़कर-देखकर उसी एक-एक अंगके रूपमें ही हाथीका प्रतिपादन करते थे, और इस तरह परस्परमें लड़ते, झगड़ते, कलहका बीज

बोते और एक दूसरेके दुःखका कारण बने हुए थे। उन्हें हाथीके सब अंगोंपर दृष्टि रखनेवाले सुनेत्र पुरुषने उनकी भूल सुझाई थी और यह कहते हुए उनका विरोध मिटाया था कि 'तुमने हाथीके एक-एक अंगको ले रक्खा है, तुम सब मिल जाओ तो हाथी बन जाय—तुम्हारे अलग-अलग कथनके अनुरूप हाथी कोई चीज़ नहीं है।' और इसलिये जो वस्तुके सब अंगोंपर दृष्टि डालता है—उसे सब ओरसे देखता और उसके सब गुण-धर्मोंको पहचानता है—वह वस्तुको पूर्ण तथा यथार्थ रूपमें देखता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है और यह अनेकान्तदृष्टि ही सती अथवा सम्यग्दृष्टि कहलाती है और यही संसारमें वैर-विरोधको मिटाकर सुख-शान्तिकी स्थापना करनेमें समर्थ है। इसीसे श्री अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अनेकान्तको विरोधका मथन करनेवाला कहकर उसे नमस्कार किया है†। और श्रीसिद्धसेनाचार्यने 'सम्मइसुत्त'में यह बतलाते हुए कि अनेकान्तके बिना लोकका कोई भी व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता, उसे लोकका अद्वितीय गुरु कह कर नमस्कार किया है ॐ।

सिद्धसेनका यह कहना कि 'अनेकान्त' के बिना लोकका व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता सोलहों आने सत्य है। सर्वथा एकान्तवादियों के सामने भी लोक-व्यवहारके बन न सकनेकी यह समस्या रही है और उसे हल करने तथा लोक-व्यवहारको बनाये रखनेके लिये उन्हें माया, अविद्या, संवृति जैसी कुछ दूसरी कल्पनायें करनी पड़ी हैं अथवा यों कहिये कि अपने सर्वथा

† परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम्।
सकल-नय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

ॐ जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥६९॥

एकान्तसिद्धान्तके छप्परको सम्भालनेके लिये उसके नीचे तरह-तरहकी टेवकियाँ (थूनियाँ) लगानी पड़ी हैं; परन्तु फिर भी वे उसे सम्भाल नहीं सके और न अपने सर्वथा-एकान्त सिद्धान्त-को किसी दूसरी तरह प्रतिष्ठित करनेमें ही समर्थ हो सके हैं। उदाहरणके लिये अद्वैत एकान्तवादको लीजिये, ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्मके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं मानते—सर्वथा अभेदवादका ही प्रतिपादन करते हैं—उनके सामने जब साक्षात् दिखाई देनेवाले पदार्थ-भेदों, कारक-क्रिया-भेदों तथा विभिन्न लोक-व्यवहारोंकी बात आई तो उन्होंने कह दिया कि 'ये सब मायाजन्य हैं' अर्थात् मायाकी कल्पना करके प्रत्यक्षमें दिखाई पड़ने वाले सब भेदों तथा लोक-व्यवहारोंका भार उसके ऊपर रख दिया। परन्तु यह माया क्या बला है और वह सत्रूप है या असत्रूप, इसको स्पष्ट करके नहीं बतलाया गया। माया यदि असत् है तो वह कोई वस्तु न होनेसे किसी भी कार्यके करने में समर्थ नहीं हो सकती। और यदि सत् है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है ? यह प्रश्न खड़ा होता है। अभिन्न होनेकी हालतमें ब्रह्म भी मायारूप मिथ्या ठहरता है और भिन्न होनेपर माया और ब्रह्म दो जुदी वस्तुएँ होनेसे द्वैतापत्ति होकर सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त बाधित हो जाता है। यदि हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जाता है तो हेतु और साध्यके दो होनेसे भी द्वैता-पत्ति होती है और हेतुके बिना वचनमात्रसे सिद्धि माननेपर उस वचनसे भी द्वैतापत्ति हो जाती है। इसके सिवाय, द्वैतके बिना अद्वैत कहना बनता ही नहीं, जैसे कि हेतुके बिना अहेतुका और हिंसाके बिना अहिंसाका प्रयोग नहीं बनता। अद्वैतमें द्वैत-का निषेध है, यदि द्वैत नामकी कोई वस्तु नहीं तो उसका निषेध भी नहीं बनता, द्वैतका निषेध होनेसे उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस तरह सर्वथा अद्वैतवादकी मान्यताका विधान

सिद्धान्त-बाधित ठहरता है, वह अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें स्वयं असमर्थ है और उसके आधार पर कोई लोकव्यवहार सुघटित नहीं हो सकता। दूसरे सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादि सर्वथा एकान्त-वादोंकी भी ऐसी ही स्थिति है, वे भी अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें असमर्थ हैं और उनके द्वारा भी अपने स्वरूपको बाधा पहुँचाये बिना लोक-व्यवहारकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।

श्रीसिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रमें कपिलके सांख्यदर्शनको द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य, शुद्धोधनपुत्र बुद्धके बौद्धदर्शनको परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका विकल्प और उलूक (कणाद) के वैशेषिकदर्शनको उक्त दोनों नयोंका वक्तव्य होनेपर भी पारस्परिक निरपेक्षताके कारण 'मिथ्यात्व' बतलाया है और उसके अनन्तर लिखा है:—

जे संतवाय-दोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥५०॥
ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्कं ॥५१॥

'सांख्योंके सद्वादपक्षमें बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमें सांख्यजन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं—सर्वथा एकान्तवादमें वैसे दोष आते ही हैं। ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जाँय—समन्वयपूर्वक अनेकान्त-दृष्टिमें परिणत हो जायँ—तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है; क्योंकि ये सत्-असत् रूप दोनों दृष्टियाँ अलग-अलग संसारके दुःखोंसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ नहीं हैं—दोनोंके

सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर संसारके दुःखोंसे मुक्ति एवं शान्ति मिल सकती है।'

इस सब कथनपरसे मिथ्यादर्शनों और सम्यग्दर्शनोंका तत्त्व सहज ही समझमें आ जाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जबतक अपने-अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर पर-विरोधका लक्ष्य रखते हैं तबतक सम्यग्दर्शनमें परिणत नहीं होते, और जब पर-विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वय-की दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमें परिणत हो जाते हैं, और जैनदर्शन कहलानेके योग्य होते हैं। जैनदर्शन अपने अने-कान्तात्मक स्याद्वाद-न्यायके द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है न कि विरोध, और इसलिये सभी मिथ्यादर्शन अपने-अपने विरोधको भुलाकर उसमें समा जाते हैं। इसीसे सन्मतिसूत्रकी अन्तिम गाथामें जिनवचन-रूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मंगलकामना करते हुए उसे 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' बतलाया है, जो इस प्रकार है—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग-सुहाहिगम्मस्स ॥७०॥

इसमें जिनवचनरूप जैनदर्शन (जिनशासन) के तीन खास विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण मिथ्यादर्शन-समूहमय, दूसरा अमृतसार और तीसरा संविग्नसुखाधिगम्य है। मिथ्यादर्शनोंका समूह होते हुए भी वह मिथ्यात्वरूप नहीं है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्ष-नयवादमें सन्निहित है—सापेक्षनय मिथ्या नहीं होते, निर्पेक्षनय

ही मिथ्या होते हैं; जैसा कि स्वामी समन्तभद्र प्रणीत देवागमके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

मिथ्या-समूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

महावीरजिनके सर्वधर्मसमन्वयकारक उदार शासनमें सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादि रूप वे सब नय-धर्म जो निरपेक्षरूप-में अलग-अलग रहकर अतत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-घातक होते हैं वे ही सब सापेक्ष (अविरोध) रूपमें मिलकर तत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-उपकारी बने हुए हैं* तथा आश्रय पाकर बन जाते हैं और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासनकी उक्त (६१ वीं) कारिकामें वीरशासनको जो सर्वधर्मवान् सर्वदुःखप्रणाशक और सर्वोदयतीर्थ बतलाया है वह बिल्कुल ठीक तथा उसकी प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। महावीर-का शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों (परस्पर निरपेक्ष नयों) अथवा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं। अतः जो लोग भगवान महावीरके शासनका—उनके धर्मतीर्थका—सचमुच आश्रय लेते हैं—उसे ठीक तौर पर अथवा पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख यथासाध्य मिट जाते हैं। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एवं विकास—तक सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

---

* य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्व-परोप-कारिणः॥ —स्वयम्भूस्तोत्र

महावीरकी ओरसे इस धर्मतीर्थका द्वार सबके लिये खुला हुआ है, जिसकी सूचक अगणित कथाएँ जैनशास्त्रोंमें पाई जाती हैं और जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पतितसे-पतित प्राणियोंने भी इस धर्मका आश्रय लेकर अपना उद्धार और कल्याण किया है; उन सब कथाओंको छोड़ कर यहां पर जैन-ग्रन्थोंके सिर्फ कुछ विधि-वाक्योंको ही प्रकट किया जाता है जिससे उन लोगोंका समाधान हो जो इस तीर्थको केवल अपना ही साम्प्रदायिक तीर्थ और एकमात्र अपने ही लिये अवतरित हुआ समझ बैठे हैं तथा दूसरोंके लिये इस तीर्थसे लाभ उठानेमें अनेक प्रकारसे बाधक बने हुए हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

(१) दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥

(२) उच्चाऽवच-जनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥

—यशस्तिलके, सोमदेवसूरिः

(३) आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देव-द्विजाति-तपस्वि-परिकर्मसु योग्यान् ॥

—नीतिवाक्यामृते, सोमदेवसूरिः

(४) शूद्रोऽप्युपस्कराऽऽचार-वपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

—सागारधर्मामृते, आशाधरः

(५) एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ।६७।

—सावयधम्मदोहा (देवसेनाचार्य)

इन सब वाक्योंका आशय क्रमसे इस प्रकार है:—

(१) 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण (आम तौरपर) मुनि-दीक्षाके योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधिके द्वारा दीक्षाके योग्य है। (वास्तवमें) मन, वचन, तथा कायसे किये जाने वाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।' (यशस्तिलक)

(२) 'जिनेन्द्रका यह धर्म प्रायः ऊँच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है। एक स्तम्भके आधारपर जैसे मन्दिर-मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीचमेंसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्यसमूहके आधार पर धर्म ठहरा हुआ नहीं है— वास्तवमें धर्म धार्मिकोंके आश्रित होता है, भले ही उनमें ज्ञान, धन, मान-प्रतिष्ठा, कुल-जाति, आज्ञा-ऐश्वर्य, शरीर, बल, उत्पत्तिस्थान और आचार-विचारादिकी दृष्टिसे कोई ऊँचा और कोई नीचा हो।' (यशस्तिलक)

(३) 'मद्य-मांसादिके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृह-पात्रादिकी पवित्रता और नित्यस्नानादिके द्वारा शरीरकी शुद्धि, ये तीनों प्रवृत्तियां (विधियां) शूद्रों को भी देव, द्विजाति और तपस्वियों (मुनियों) के परिकर्मोंके योग्य बनाती हैं।' (नीतिवाक्यामृत)

(४) 'आसन और वर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्यमांसादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके समान धर्मकापालन करनेके योग्य है; क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर धर्मका अधिकारी होता है।' (सागारधर्मामृत)

(५) 'इस (श्रावक) धर्मका जो कोई भी आचरण—पालन करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वह श्रावक है। श्रावकके सिरपर और क्या कोई मणि होता है? जिससे उसकी पहिचान की जा सके।' (सावयधम्मदोहा)

नीच-से-नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी जो इस धर्मप्रवर्तककी शरणमें आकर नतमस्तक हो जाता है—प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा प्रवर्तित धर्मको धारण करता है—वह इसी लोकमें अति उच्च बन जाता है। इस धर्मकी दृष्टिमें कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—,सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याणकारी हैं, और इसीसे इस धर्ममें एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होने पर '*ब्राह्मण*' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होने पर '*देव*' (आराध्य) माना गया है और चाण्डालको किसी साधारण धर्म-क्रियाका ही नहीं किन्तु '*उत्तमधर्म*' का अधिकारी सूचित किया है; जैसा कि निम्न आर्य-वाक्योंसे प्रकट है:—

यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरः कुतः ॥८२॥

—स्तुतिविद्यायां, समन्तभद्रः

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११-२०३॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

—रत्नकरण्डे, समन्तभद्रः

चाण्डालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि।

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

वीरका यह धर्म तीर्थ इन ब्राह्मणादि जाति-भेदोंको तथा दूसरे चाण्डालादि विशेषोंको वास्तविक ही नहीं मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचार-भेदके आधारपर कल्पित एवं परिवर्तनशील

जानता है। साथ ही यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणों-की उत्पत्तिपर जाति उत्पन्न होती है, उनके नाशपर नष्ट हो जाती है और वर्णव्यवस्था गुणकर्मोंके आधारपर है न कि जन्मके। यथा :—

चातुर्वर्ण्यं यथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ॥११-२०५॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।
न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता काऽपि तात्त्विकी ॥१७-२४
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ॥१७-३२॥

—धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः

तस्माद्गुणैर्वर्ण-व्यवस्थितिः । ॥११-१९८॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

क्रियाविशेषादिनिबन्धन एव ब्राह्मणादिव्यवहारः ।

—प्रमेयकमलमार्तण्डे, प्रभाचन्द्राचार्यः

इस धर्ममें यह भी बतलाया गया है कि इन ब्राह्मणादि जा-तियोंका आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य-शरीरमें नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिमें गर्भाधान-की प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जाति-भेदके विरुद्ध है। इसी तरह जारजका भी कोई चिह्न शरीरमें नहीं होता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय; और न केवल व्यभि-चारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस तीर्थ-धर्ममें 'अनार्य आचरण' अथवा

'म्लेच्छाचार' माना गया है। इन दोनों बातोंके निर्देशक दो वाक्य इस प्रकार हैं:—

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥
नास्ति जाति-कृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥

—महापुराणे, गुणभद्राचार्यः

चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाऽङ्गेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोचरः ॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

वस्तुतः सब मनुष्योंकी एक ही मनुष्यजाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नामकर्मके उदयसे होती है, और इस दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमें भाई-भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा अधिकार प्राप्त है। जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८-४५॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥

—धर्मरसिके, सोमसेनोद्धृतः

इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो तो उसकी शुद्धि की, और म्लेच्छों तककी कुलशुद्धि करके उन्हें अपनेमें मिलाने तथा मुनिदीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी

स्पष्ट आज्ञाएँ भी इस धर्मशासनमें पाई जाती हैं* । और इस-

* जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

१. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्त-दूषणम् ।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥४०-१६८॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुलेचेदस्य पूर्वजाः ॥४०-१६९॥

२. स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजा-बाधा-विधायिनः ।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥४२-१७९॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

३. "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाऽशंकितव्यं । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ-व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥"

—लब्धिसारटीका (गाथा १९३वीं)

नोट—यहां म्लेच्छोंकी दीक्षा-योग्यता, सकलसंयमग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध आदिका जो विधान किया है वह सब कसायपहुडकी 'जयधवला' टीकामें भी, जो लब्धिसारटीकासे कईसौ वर्ष पहलेकी (९वीं शताब्दीकी) रचना है, इसी क्रमसे प्राकृत और संस्कृत भाषामें दिया है । जैसाकि उसके निम्न शब्दोंसे प्रकट है:—

"जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्जं । दिसाविजयपयट्टचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो । अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं । तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति। "

लिए यह शासन सचमुच ही 'सर्वोदयतीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसारसमुद्रसे पार उतर सकता है ।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने —जिनके हाथों दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदयतीर्थका-सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमें ताला डाल दिया है । हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरोंको लाभ उठाने देते हैं—मात्र अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीड़ाके स्थल-रूपमें ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदयतीर्थ' पर दिन-रात उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोंका मेला-सा लगा रहना चाहिये था वहाँ आज सन्नाटासा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अंगुलियोंपर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमें भी जैनत्वका प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता—कहीं भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नजर नहीं आती—लोगोंको महावीरके सन्देशकी ही खबर नहीं, और इसीसे संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है ।

ऐसी हालतमें अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया जाय, इसकी सब रुकावटोंको दूर कर दिया जाय, इसपर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हर वक्त खुला रहे, सभीके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटोंकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहारमें न आनेके कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा

उसमें कहीं-कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकालकर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके महात्म्यका पूरा-पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होनेपर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जानेपर आप देखेंगे कि देश-देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोंकी इसपर भीड़ रहती है, कितने विद्वान् इसपर मुग्ध होते हैं, कितने असंख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दुःख-संतापोंसे छुटकारा पाते हैं और संसारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज १८०० वर्षके लगभग हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसीसे कनड़ी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख * में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान् महावीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोंमें व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमें यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खण्डित

* यह शिलालेख बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक सम्वत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पांचवीं अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ४६ अथवा समीचीन-धर्मशास्त्रकी प्रस्तावना पृष्ठ ११३।

हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओर-से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि भगवान् महावीरके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

—युक्त्यनुशासन

अतः इस तीर्थके प्रचार-विषयमें ज़रा भी संकोचकी ज़रूरत नहीं है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपर्युक्त रीतिसे योग्य-प्रचारकोंके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबोंको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठानेका पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकों-का यह काम है कि वे जैसे-तैसे जनतामें मध्यस्थभावको जाग्रत करें, ईर्षा-द्वेषादिरूप मत्सर-भावको हटाएँ, हृदयोंको युक्तियोंसे संस्कारित कर उदार बनाएँ, उनमें सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करें और उस सत्यकी दर्शनप्राप्तिके लिये लोगोंकी समाधान-दृष्टिको खोलें।

महावीर-सन्देश

हमारा इस वक्त यह ख़ास कर्तव्य है कि हम भगवान् महा-वीरके सन्देशको—उनके शिक्षासमूहको—मालूम करें, उसपर खुद अमल करें और दूसरोंसे अमल करानेके लिये उसका घर-घरमें प्रचार करें। बहुतसे जैनशास्त्रोंका अध्ययन, मनन और मन्थन करने पर मुझे भगवान् महावीरका जो सन्देश मालूम हुआ है उसे मैंने एक छोटीसी कवितामें निबद्ध कर दिया है। यहाँ पर

उसका देदिया जाना कुछ अनुचित न होगा। उससे थोड़ेमें ही—सूत्ररूपसे—महावीर भगवान्की बहुतसी शिक्षाओंका अनुभव हो सकेगा और उन पर चलकर—उन्हें अपने जीवनमें उतार-कर—हम अपना तथा दूसरोंका बहुत कुछ हित साधन कर सकेंगे। वह सन्देश इस प्रकार है:—

यही है महावीर-सन्देश।

विपुलाचलपर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश॥ यही०॥
सब जीवोंको तुम अपनाओ, हर उनके दुख-क्लेश।
असद्भाव रक्खो न किसीसे, हो अरि क्यों न विशेष॥१॥
वैरीका उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि-विशेष।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश॥२॥
घृणा पापसे हो, पापीसे नहीं कभी लव-लेश।
भूल सुझा कर प्रेम-मार्गसे, करो उसे पुण्येश॥३॥
तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम मनन तत्त्व-उपदेश॥४॥
जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-मोह-कषाय अशेष।
धरो धैर्य, समचित्त रहो, औ' सुख-दुखमें सविशेष॥५॥
अहंकार-ममकार तजो, जो अवनतिकार विशेष।
तप-संयममें रत हो, त्यागो तृष्णा-भाव अशेष॥६॥
'वीर' उपासक बनो सत्यके, तज मिथ्याऽभिनिवेश।
विपदाओंसे मत घबराओ, धरो न कोपावेश॥७॥
संज्ञानी-संदृष्टि बनो, औ' तजो भाव संक्लेश।
सदाचार पालो दृढ होकर, रहे प्रमाद न लेश॥८॥
सादा रहन-सहन-भोजन हो, सादा भूषा-वेष।
विश्व-प्रेम जाग्रत कर उरमें, करो कर्म निःशेष॥९॥
हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश।
दया-लोक-सेवा-रत चित हो, और न कुछ आदेश॥१०॥

इस पर चलनेसे ही होगा, विकसित स्वात्म-प्रदेश।
आत्म-ज्योति जगेगी ऐसे, जैसे उदित दिनेश ॥११॥
यही है महावीर-सन्देश, विपुलाचल ।

सर्वोदयतीर्थके कुछ मूलसूत्र

भगवान् महावीरके सर्वोदयतीर्थ-सम्बन्धी कुछ मूल सूत्र इस प्रकार हैं, जिनसे उस तीर्थ-शासनको बहुत कुछ जाना-पहिचाना जा सकता तथा अपने हितके लिये उपयोगमें लाया जा सकता है:—

१ सब जीव द्रव्य-दृष्टिसे परस्पर समान हैं।

२ सब जीवोंका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है।

३ प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार अथवा पिण्ड है।

४ अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल-प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं।

५ इस कर्ममलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतन्त्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं।

६ अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है।

७ कर्ममलके भेदसे ही यह सब जीव-जगत भेदरूप है।

८ जीवकी इस कर्ममलसे मलिनावस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं।

९ जब तक किसी जीवकी यह विभावपरिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है। और तभी तक उसे संसार-

में कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दु:ख उठाना होता है।

१० जब योग्य-साधनोंके बलपर विभावपरिणति मिट जाती है, आत्मामें कर्ममलका सम्बन्ध नहीं रहता और उसका निज-स्वभाव पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूट कर मुक्तिको प्राप्त होता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है।

११ आत्माकी पूर्णविकसित एवं परम-विशुद्ध अवस्थाके अतिरिक्त परमात्मा या ईश्वर नामकी कोई जुदी वस्तु नहीं है।

१२ परमात्माकी दो अवस्थाएँ हैं, एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त।

१३ जीवन्मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध शेष रहता है, जब कि विदेहमुक्तावस्थामें कोई भी प्रकारके शरीरका सम्बन्ध अवशिष्ट नहीं रहता।

१४ संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये मुख्य दो भेद हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद अनेकानेक हैं।

१५ एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियके धारक जीव 'स्थावर' और रसनादि इन्द्रियों तथा मनके धारक जीव 'त्रस' कहलाते हैं।

१६ जीवोंके संसारी मुक्तादि ये सब भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। इसी दृष्टिसे उन्हें अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्णविकसित ऐसे चार भागोंमें भी बांटा जा सकता है।

१७ जो जीव अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्म-गुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

१८ संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने रूप सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें।

१६ सिद्धि स्वात्मोपलब्धिको कहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये आत्मगुणोंका परिचय, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये।

२० इसके लिये, अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें या पूर्णरूपसे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम-मार्ग है।

२१ शरणमें जानेका आशय उपासना-द्वारा उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना, उन्हें अपना मार्गप्रदर्शक मानकर उनके पद-चिह्नोंपर चलना और उनकी शिक्षाओंपर अमल करना है।

२२ सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मो-कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्तियोग' है।

२३ शुद्धात्माओंके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूलवर्तनको तथा उनमें गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको 'भक्ति' कहते हैं।

२४ पुण्य-गुणोंके स्मरणसे आत्मामें पवित्रताका संचार होताहै।

२५ सद्भक्तिसे प्रशस्त अध्यवसाय एवं कुशल-परिणामोंकी उपलब्धि और गुणावरोधक संचित कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्मा-का विकास सधता है।

२६ सच्ची उपासनासे उपासक उसी प्रकार उपास्यके समान हो जाता है जिस प्रकार कि तैलादिसे सुसज्जित बत्ती पूर्ण-तन्म-यताके साथ दीपकका आलिंगन करनेपर तद्रूप हो जाती है।

२७ जो भक्ति लौकिक लाभ, यश, पूजा-प्रतिष्ठा, भय तथा रूढि आदिके वश की जाती है वह सद्भक्ति नहीं होती और न उससे आत्मीय-गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है।

२८ सर्वत्र लक्ष्य-शुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी जरू-रत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है।

२९ बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथार्थ फलको नहीं फलती

और न बिना विवेककी भक्ति ही सद्भक्ति कहलाती है।

३० जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकासकी भूमिका ही तैयार नहीं होती।

३१ भक्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्गमें उसे पहला स्थान प्राप्त है।

३२ बिना भावके पूजा-दान-जपादिक उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार कि बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तन।

३३ जीवात्माओंके विकासमें सबसे बड़ा बाधक कारण मोह-कर्म है, जो अनन्तदोषोंका घर है।

३४ मोहके मुख्य दो भेद हैं एक दर्शनमोह जिसे मिथ्यात्व भी कहते हैं और दूसरा चारित्रमोह जो सदाचारमें प्रवृत्ति नहीं होने देता।

३५ दर्शनमोह जीवकी दृष्टिमें विकार उत्पन्न करता है, जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ अवलोकन न होकर अन्यथा रूपमें होता है और इसीसे वह मिथ्यात्व कहलाता है।

३६ दृष्टिविकार तथा उसके कारणको मिटानेके लिये आत्मामें तत्त्व-रुचिको जागृत करनेकी जरूरत है।

३७ तत्त्वरुचिको उस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा जागृत किया जाता है जो संसारी जीवात्माको तत्त्व-अतत्त्वकी पहचानके साथ अपने शुद्धस्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकार-दोषका अथवा विभावपरिणतिका, विकारके विशिष्ट-कारणोंका और उन्हें दूर करके निर्विकार-निर्दोष बनने, बन्धनरहित मुक्त होने तथा अपने निज स्वरूपमें सुस्थित होनेका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर आत्मविकासके सम्मुख किया जाता है।

३८ ऐसे ज्ञानाभ्यासको ही 'ज्ञानयोग' कहते हैं।

३९ वस्तुका जो निज स्वभाव है वही उसका धर्म है।

४० प्रत्येक वस्तुमें अनेकानेक धर्म होते हैं, जो पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए अविरोध-रूपसे रहते हैं और इसीसे वस्तुका वस्तुत्व बना रहता है।

४१ वस्तुके किसी एक धर्मको निरपेक्षरूपसे लेकर उसी एक धर्मरूप जो वस्तुको समझना तथा प्रतिपादन करना है वह एकान्त अथवा एकान्तवाद है। इसीको निरपेक्ष-नयवाद भी कहते हैं।

४२ अनेकान्तवाद इसके विपरीत है। वह वस्तुके किसी एक धर्मका प्रतिपादन करता हुआ भी दूसरे धर्मोंको छोड़ता नहीं, सदा सापेक्ष रहता है और इसीसे उसे 'स्याद्वाद' अथवा 'सापेक्ष-नयवाद' भी कहते हैं।

४३ जो निरपेक्षनयवाद हैं वे सब मिथ्यादर्शन हैं और जो सापेक्षनयवाद हैं वे सब सम्यग्दर्शन हैं।

४४ निरपेक्षनय परके विरोधकी दृष्टिको अपनाये हुए स्व-पर-वैरी होते हैं, इसीसे जगतमें अशान्तिके कारण हैं।

४५ सापेक्षनय परके विरोधको न अपनाकर समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए स्व-परोपकारी होते हैं, इसीसे जगतमें शान्ति-सुखके कारण हैं।

४६ दृष्ट और इष्टका विरोधी न होनेके कारण स्याद्वाद निर्दोषवाद है, जबकि एकान्तवाद दोनोंके विरोधको लिये हुए होनेसे निर्दोषवाद नहीं है।

४७ 'स्यात्' शब्द सर्वथाके नियमका त्यागी, यथादृष्टको अपेक्षामें रखनेवाला, विरोधी धर्मका गौणरूपसे द्योतनकर्त्ता और परस्पर-प्रतियोगी वस्तुके अंगरूप धर्मोंकी संधिका विधाता है।

४८ जो प्रतियोगीसे सर्वथा रहित है वह आत्महीन होता है और अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता।

४९ इस तरह सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक, अनेक, शुभ-अशुभ, लोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष, द्रव्य-पर्याय, सामान्य-

विशेष, विद्या-अविद्या, गुण-दोष अथवा विधि-निषेधादिके रूपमें जो असंख्य अनन्त जोड़े हैं उनमेंसे किसी भी जोड़ेके एक साथीके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं बन सकता।

५० एक धर्मीमें प्रतियोगी धर्म परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए रहते हैं, सर्वथा रूपसे किसी एककी कभी व्यवस्था नहीं बन सकती।

५१ विधि-निषेधादिरूप सप्त भंग सम्पूर्णतत्त्वार्थपर्यायोंमें घटित होते हैं और 'स्यात्' शब्द उनका नेतृत्व करता है।

५२ सारे ही नय-पक्ष सर्वथारूपमें अति दूषित हैं और स्यात्रूपमें पुष्टिको प्राप्त हैं।

५३ जो स्याद्वादी हैं वे ही सुवादी हैं, अन्य सब कुवादी हैं।

५४ जो किसी अपेक्षा अथवा नयविवक्षाको लेकर वस्तुतत्त्वका कथन करते हैं वे स्याद्वादी हैं, भले ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग साथमें न करते हों।

५५ कुशलाऽकुशल-कर्मादिक तथा बन्ध-मोक्षादिककी सारी व्यवस्था स्याद्वादियों अथवा अनेकान्तियोंके यहाँ ही बनती है।

५६ सारा वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है।

५७ जो अनेकान्तात्मक है वह अभेद-भेदात्मककी तरह तद्-तत्स्वभावको लिये होता है।

५८ तदतत्स्वभावमें एक धर्म दूसरे धर्मसे स्वतन्त्र न होकर उसकी अपेक्षाको लिये रहता है और मुख्य-गौणकी विवक्षासे उसकी व्यवस्था उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि मथानीकी रस्सीके दोनों सिरोंकी।

५९ विवक्षित मुख्य और अविवक्षित गौण होता है।

६० मुख्यके बिना गौण तथा गौणके बिना मुख्य नहीं बनता। जो गौण होता है वह अभावरूप निरात्मक नहीं होता।

६१ वही तत्त्व प्रमाण-सिद्ध है जो तदतत्स्वभावको लिए हुए

एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है।

६२ वस्तुके जो अंश (धर्म) परस्पर निरपेक्ष हों वे पुरुषार्थके हेतु अथवा अर्थ-क्रिया करनेमें समर्थ नहीं होते।

६३ जो द्रव्य है वह सत्स्वरूप है।

६४ जो सत् है वह प्रतिक्षण उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है।

६५ उत्पाद् तथा व्यय पर्यायमें होते हैं और ध्रौव्य गुणमें रहता है, इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् भी कहा गया है।

६६ जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता।

६७ जो सर्वथा असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं होता।

६८ द्रव्य तथा सामान्यरूपसे कोई उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता; क्योंकि द्रव्य सब पर्यायोंमें और सामान्य सब विशेषोंमें रहता है।

६९ विविध पर्यायें द्रव्यनिष्ठ एवं विविध विशेष सामान्य-निष्ठ होते हैं।

७० सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथापर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत द्रव्य-पर्यायकी युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है।

७१ सर्वथा नित्यमें उत्पाद और विनाश नहीं बनते, विकार तथा क्रिया-कारककी योजना भी नहीं बन सकती।

७२ विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं, सर्वथा नहीं।

७३ विधि-निषेधमें विवक्षासे मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है

७४ वस्तुके किसी एक धर्मको प्रधानता प्राप्त होनेपर शेष धर्म गौण हो जाते हैं।

७५ वस्तु वास्तवमें विधि-निषेधादि-रूप दो-दो अवधियोंसे ही कार्यकारी होती है।

७६ बाह्य और आभ्यन्तर अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके मिलनेसे ही कार्यकी निष्पत्ति होती है।

७७ जो सत्य है वह सब अनेकान्तात्मक है, अनेकान्तके

बिना सत्यकी कोई स्थिति ही नहीं।

७८ जो अनेकान्तको नहीं जानता वह सत्यको नहीं पहचानता, भले ही सत्यके कितने ही गीत गाया करे।

७९ अनेकान्त परमागमका बीज अथवा जैनागमका प्राण है।

८० जो सर्वथा एकान्त है वह परमार्थ-शून्य है।

८१ जो दृष्टि अनेकान्तात्मक है वह सम्यग्दृष्टि है।

८२ जो दृष्टि अनेकान्तसे रहित है वह मिथ्यादृष्टि है।

८३ जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह सब मिथ्या-वचन है।

८४ सिद्धि अनेकान्तसे होती है, न कि सर्वथा एकान्तसे।

८५ सर्वथा एकान्त अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनेमें भी समर्थ नहीं होता।

८६ जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे अपने वैरी आप हैं।

८७ जो अनेकान्त-अनुयायी हैं वे वस्तुतः अर्हज्जिनमतानुयायी हैं, भले ही वे 'अर्हन्त' या 'जिन' को न जानते हों।

८८ मन-वचन-काय-सम्बन्धी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति या निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते हैं।

८९ दया, दम, त्याग और समाधिमें तत्पर रहना आत्म-विकासका मूल एवं मुख्य कर्मयोग है।

९० समीचीन धर्म सद्दृष्टि, सद्बोध और सच्चारित्ररूप है, वही रत्नत्रय-पोत और मोक्षका मार्ग है।

९१ सद्दृष्टिको लिये हुए जो ज्ञान है वह सद्बोध कहलाता है

९२ सद्बोध-पूर्वक जो आचरण है वही सच्चारित्र है अथवा ज्ञानयोगीके कर्मादानकी निमित्तभूत जो क्रियाएँ उनका त्याग सम्यक्चारित्र है और उसका लक्ष्य राग-द्वेषकी निवृत्ति है।

९३ अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-दोषोंको शान्त करनेसे ही

आत्मामें शान्तिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा होती है।

९४ ये राग-द्वेपादि-दोप, जो मनकी समताका निराकरण करनेवाले हैं, एकान्त धर्माभिनिवेश-मूलक होते हैं और मोही जीवोंके अहंकार-ममकारसे उत्पन्न होते हैं।

९५ संसारमें अशान्तिके मुख्य कारण विचार-दोष और आचार-दोप हैं।

९६ विचारदोषको मिटानेवाला 'अनेकान्त' और आचार-दोपको दूर करनेवाली 'अहिंसा' है।

९७ अनेकान्त और अहिंसा ही शास्ता वीरजिन अथवा वीरजिन-शासनके दो पद हैं।

९८ अनेकान्त और अहिंसाका आश्रय लेनेसे ही विश्वमें शान्ति हो सकती है।

९९ जगतके प्राणियोंकी अहिंसा ही 'परमब्रह्म' है, किसी व्यक्तिविशेषका नाम परमब्रह्म नहीं।

१०० जहाँ बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग है वहीं उस अहिंसाका वास है।

१०१ जहाँ दोनों प्रकारके परिग्रहोंका भार-वहन अथवा वास है वहीं हिंसाका निवास है।

१०२ जो परिग्रहमें आसक्त है वह वास्तवमें हिंसक है।

१०३ आत्मपरिणामके घातक होनेसे झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब हिंसाके ही रूप हैं।

१०४ धन-धान्यादि सम्पत्तिके रूपमें जो भी सांसारिक विभूति है वह सब बाह्य परिग्रह है।

१०५ आभ्यन्तर परिग्रह दर्शनमोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और जुगुप्साके रूपमें है।

१०६ तृष्णा-नदीको अपरिग्रह-सूर्यके द्वारा सुखाया जाता और विद्या-नौकासे पार किया जाता है।

१०७ तृष्णाकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रिय-विषयोंकी सम्पत्तिसे नहीं होती, प्रत्युत इसके वृद्धि होती है।

१०८ आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये ही बाह्य तप विधेय है।

१०९ यदि आध्यात्मिक तपकी वृद्धि ध्येय या लक्ष्य न हो तो बाह्य तपश्चरण एकान्ततः शरीर-पीडनके सिवा और कुछ नहीं।

११० सद्ध्यानके प्रकाशसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर होता है

१११ अपने दोषके मूल कारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है।

११२ समाधिकी सिद्धिके लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग आवश्यक है।

११३ मोह-शत्रुको सद्दृष्टि, संवित्ति और उपेक्षारूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित किया जाता है।

११४ वस्तु ही अवस्तु हो जाती है, प्रक्रियाके बदल जाने अथवा विपरीत हो जानेसे।

११५ कर्म कर्तारको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता।

११६ जो कर्मका कर्ता है वही उसके फलका भोक्ता है।

११७ अनेकान्त-शासन ही अशेष-धर्मोंका आश्रय-भूत और सर्व-आपदाओंका प्रणाशक होनेसे 'सर्वोदयतीर्थ' है।

११८ जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता वह सब धर्मोंसे शून्य एवं विरोधका कारण होता है और कदापि 'सर्वोदयतीर्थ' नहीं हो सकता।

११९ आत्यन्तिक-स्वास्थ्य ही जीवोंका सच्चा स्वार्थ है, क्षण-भंगुर भोग नहीं।

१२० विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिस्वरूपमें शाश्वती स्थिति ही 'आत्यन्तिकस्वास्थ्य' कहलाती है, जिसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।